

## आचार्य रामचंद्र शुक्ल की साहित्येतिहास लेखन दृष्टि

डॉ. ज्योति शर्मा\*

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा में बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्येतिहासकार हैं। उनकी साहित्येतिहास संबंधी अवधारणा आज तक की सबसे वैज्ञानिक और सफल है। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ही हिन्दी साहित्य का पहला वास्तविक इतिहास माना जाता है। उनसे पूर्व साहित्येतिहास के नाम पर कविवृत्तसंग्रहों की एक लम्बी परम्परा है। परवर्ती साहित्येतिहासों में कुछ ग्रंथ आ. शुक्ल की मान्यताओं के समर्थक बने हैं और कुछ में उनकी अवधारणाओं का विरोध करने की ही प्रवृत्ति रही है। फिर भी जो प्रमुख तथ्य उभरता है वह है कि चाहे समर्थक हों चाहे विरोधी कोई भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आ० शुक्ल के महत्व से अनभिज्ञ नहीं हैं।

आ. शुक्ल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का पहला संस्करण दिसम्बर सन् 1929 ई. में प्रकाशित हुआ था। यह 'इतिहास' सबसे पहले 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में जनवरी सन् 1929 ई. में ही प्रकाशित हुआ था। आ. शुक्ल की इतिहास-दृष्टि साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर आधारित है। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण न तो भाववादियों की मान्यताओं पर आधारित है और न ही इसका बीजतत्व विधेयवादियों की अवधारणा में है। वे 'जनता की चित्तवृत्ति' से साहित्य के सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। उनके शब्दों में "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है"<sup>1</sup> अतः इतिहास लेखन में आ० शुक्ल की मूल दृष्टि जनता को चित्तवृत्ति पर ही रही। 'जनता की चित्तवृत्ति' एक भाव है इसलिए

कोई स्थायी और जड़ वस्तु नहीं है बल्कि परिवर्तनशील है और परिवर्तन का आधार समाज ही है। आ.शुक्ल उस के आधार का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। अतः आ० शुक्ल के इतिहास लेखन का महत्त्व इसी तथ्य में है कि उसमें वर्गीकरण और व्यवस्थापन को प्रधानता दी गई है, सामग्री के संकलन को नहीं। इतिहास के ढाँचे के संबंध में उन्होंने स्पष्टतः तीन बातों को केन्द्र में रखा है। प्रथम, जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होनाय द्वितीय, इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना तथा तृतीय, कारण स्वरूप (राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक) परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होना। आ० शुक्ल साहित्य के सामाजिक आधार को अच्छी तरह समझते थे और उनकी स्पष्ट धारणा थी कि साहित्य और समाज का अनिवार्य सम्बन्ध होता है। इस बात का समर्थन करने के लिए महेन्द्रपाल शर्मा का यह मत पर्याप्त है कि "वे सामाजिक जीवन की विविध परिस्थितियों को, युग विशेष की साहित्यिक धाराओं, विचारों और धारणाओं का उद्भावक मानने के कारण इतिहास की गतिविधि की नियमन शक्ति को सामाजिक जीवन की विविध परिस्थितियों में खोजते हैं। काव्यकला के संबंध-सूत्रों को सामाजिक जीवन में ढूँढते हैं। इस प्रकार वे इतिहास का अध्ययन सामाजिक जीवन के सत्य को जानने के लिए तथा उसके विकासशील नियमों को उद्घाटित करने के लिए करते हैं"<sup>2</sup> विकासवादी दृष्टिकोण होने के कारण आ० शुक्ल की मान्यताओं में गत्यात्मकता लक्षित होती है। अतः हिन्दी साहित्येतिहास के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण का श्रेय आ. शुक्ल को ही जाता है।

आ. शुक्ल से पहले गार्सा द तासी, मिश्रबन्धु आदि ने जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे, वे इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार और जन जीवन की चित्तवृत्ति के आधार पर नहीं थे, बल्कि उन्होंने आदि, मध्य पूर्व, उत्तर इत्यादि खण्डों में एक हजार वर्ष के इतिहास को बांधकर देखा था। इससे सुसंगत तथा प्रवृत्त्यात्मक झलक नहीं मिल सकी। आ. शुक्ल इस प्रकार के काल विभाजन को उचित नहीं मानते। वे लिखते हैं "सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य पूर्व, उत्तर इत्यादि खण्डों में आँख मूंदकर बाँट देना। यह भी न देखना कि खण्ड के भीतर क्या आता

है, क्या नहीं, किसी वृत्तसंग्रह को इतिहास नहीं बनाता<sup>3</sup> आ० शुक्ल ने एक हजार वर्ष के विविधता से भरे सुदीर्घ साहित्य को विश्लेषित कर जिस सुसंगत ढंग से इतिहास में लिखा है और काव्य प्रवृत्तियों एवं जन-जीवन की चित्तवृत्ति के आधार पर जो नामकरण किया है, वह आज भी चुनौती बनी हुई है।

**काल विभाजन और नामकरण**—काल-विभाजन में उन्होंने दो बातों पर ध्यान रखा

(1) किसी युग में अधिकता से पाई जाने वाली रचनाएँ (संख्या को दृष्टि से)

(2) लोकप्रिय रचनाएँ। अधिकता से पाई जाने वाली रचनाओं के आधार पर युग-विभाजन युक्ति-संगत है, किन्तु जो रचनाएँ उस कोटि में नहीं पाती उन्हें कहाँ ले जाएँ यह व्यवहारिक प्रश्न बना ही रह जाता है। आ० शुक्ल ने उन्हें 'फुटकल' खाते में डाला है। किन्तु, आ० शुक्ल की यह धारणा पूर्णतः सही है ऐसा नहीं है। इस मत की भी अपनी सीमाएँ हैं।

#### आदिकाल—

युग-विभाजन और वर्गीकरण की दृष्टि से सबसे प्रमुख समस्या 'आदिकाल' के सीमा निर्धारण और नामकरण की है। आ शुक्ल ने उपलब्ध रचनाओं की प्रचुरता और कथ्य के आधार पर उसका नामकरण किया है। किन्तु अपने ग्रंथ के संशोद्धि त संस्करण के दूसरे प्रकरण में 'अपभ्रंश-काल' शीर्षक के अंतर्गत जैन और सिद्ध-साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है। सिद्धों और योगियों के साहित्य में जीवन को स्वाभाविकता को न देख कर भाषा के विकास और जनता के संस्कारों को देखते हुए आ० शुक्ल ने इसको विवेचित किया है। इस तथ्य पर कोई दो राय नहीं है कि इस साहित्य के मूल में साम्प्रदायिक शिक्षा और सम्प्रदाय विशेष के विधि-विधानों की भरमार है, परन्तु कहीं-कहीं शुद्ध साहित्य को भी इसमें देखा गया है। स्वयंभू की रामायण को महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी का सबसे प्राचीन और उच्चकोटि का काव्य ग्रंथ मानते हैं<sup>4</sup> संभवतः आ० शुक्ल के समक्ष यह ग्रंथ न हो। उस काल की अन्य धार्मिक रचनाओं के संबंध में आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं "परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है उसमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाए रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है<sup>5</sup> किन्तु इतना कहने पर भी डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन रचनाओं को शुद्ध साहित्य की कोटि में लाते समय कुछ संकोच का अनुभव अवश्य किया है।

इस प्रकार गहन शोध के उपरांत आदिकाल से संबद्ध नवीन सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई किन्तु उसमें भी किसी ऐसे आधार को नहीं खोजा जा सका है जिसके आधार पर दोषरहित नामकरण किया जा सके।

#### भक्तिकाल

'भक्तिकाल' नाम से प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं। साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को देखते हुए वही नाम उचित भी है। किन्तु इस युग की सीमा कहाँ से कहाँ तक मानी जाय इस संबंध में मतैक्य नहीं।

'भक्तिकाल' की उत्तरवर्ती सीमा 'रीतिकाल' को छूती है, अतः दोनों के बीच विभाजक रेखा खींचने के लिए 'भक्ति' और 'रीति' के मूल अर्थ का ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है। आ० शुक्ल के इतिहास में वर्णित 'रामभक्ति शाखा' और 'कृष्णभक्ति शाखा' के अंतिम कवियों (हृदयराम एवं केशवदास) का काव्यकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम काल है। इसका अर्थ यह है कि भक्तिकाल की दो प्रमुख धारायें वि० सं० 1700 तक प्रधान रूप से प्रवाहित होती रहीं। किन्तु जैसा आ० शुक्ल का मत है, "संवत् 1598 में पाराम थोड़ा बहुत रस निरूपण भी कर चुके थे।<sup>6</sup> अतः 'रीतिकाल' के प्रारम्भ होने के लगभग 100 वर्ष पूर्व रीति निरूपण शुरु हो गया था जिसको कुछ और आगे चलकर केशवदास ने अत्यंत प्रौढरूप प्रदान किया। किन्तु केशव की गणना भी आ० शुक्ल ने भक्तिकाल के फुटकल कवियों ने अंतर्गत की और यह स्पष्ट किया "हिन्दी में रीति-ग्रंथों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर"<sup>7</sup> लेकिन इस मत की भी अपनी सीमा है "पहली बात तो यह है कि केवल 50 वर्षों का व्यवधान पड़ जाने से ही किसी साहित्य की परम्परा को खण्डित नहीं मान सकते। इस बीच में कुछ न कुछ वैसी रचनायें अवश्य लिखी गई होंगी, यह दूसरी बात है कि उन्हें पर्याप्त ख्याति न प्राप्त हो सकी हो। दूसरी बात यह है कि चिंतामणि के बाद आने वाली रीति-ग्रंथकारों की परम्परा में केशवदास का साहित्यिक आदर्श न दिखाई पड़ने के कारण ही वह परम्परा 'कविप्रिया' आदि से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न नहीं हो सकती। साहित्यिक आदर्श चाहे जो हो, अलंकार-अलंकार्य के सम्बन्ध में चाहे जो धारणायें रखी जाएँ, 'रीतिकाल' नाम के भीतर सबकी समाई है"<sup>8</sup>

यद्यपि कबीर का आविर्भाव पहले देखकर वे 'निर्गुण काव्य-धारा' को प्राथमिकता देते हैं और सूफी-काव्य-धारा को कालक्रम के अनुसार उसके तुरंत बाद में स्थान देते हैं तथापि यह बात सहज स्पष्ट हो जाती है कि इस स्थापना

के पीछे जो दृष्टिकोण कार्य कर रहा है वह कवियों के जन्म को प्रधानता न देकर आचार्यों या सम्प्रदाय प्रवर्तकों के जन्म को महत्त्व देता है। कबीर को निर्गुण काव्य-धारा का प्रवर्तक भी मानते हैं जिसके अन्तर्गत अनेक कवियों ने रचनायें लिखीं "उनका (कबीर का) 'निर्गुण-पंथ चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास अनेक संत हुए"<sup>9</sup> इस संदर्भ में डॉ. जयचंद राय का मत है कि "यदि 'कबीर पंथ' का प्रवर्तक कोई और संत होता तो क्रम की स्थापना में उसी के जीवन काल का विचार होता उसी प्रकार, सूफी कवियों में भी प्रेमकथाओं की स्वतंत्र उद्भावनायें मिलती हैं। वे काव्य-परम्परा प्रेरित हैं, आचार्य प्रेरित नहीं इसके विपरीत 'सूर' और 'तुलसी' द्वारा भगवान के गृहीत रूप अन्य आचार्यों द्वारा निर्धारित थे। तुलसी ने अपने आपको 'साम्प्रदायिक सीमाओं से अलग रखा अवश्य, किन्तु राम के जिस रूप की प्रतिष्ठा वे चाहते थे वह बहुत कुछ रामानंद द्वारा निरूपित हो चुका था। रामानंद ने हिन्दी में कुछ कवितायें भी लिखीं। कदाचित् यही सोचकर रामभक्ति धारा का संबंध शुक्ल जी ने उनसे ही जोड़ा है। दूसरी ओर हिन्दी की कृष्णभक्ति शाखा मुख्यतः वल्लभाचार्य द्वारा निरूपित भगवत्स्वरूप एवं उन्हीं द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की सीमाओं को स्वीकार करके चली। इसलिए सूरदास के काव्य के अंतर्गत उसका उद्गम न मानकर उन्होंने वल्लभाचार्य के जीवनकाल का ध्यान रखा। रामानंद का समय शुक्ल जी के विचारानुसार पन्द्रहवीं शती का अंतिम चरण और सोलहवीं शती का पूर्वार्ध है और वल्लभाचार्य का सोलहवीं शती का मध्यकाल या उत्तरार्ध। ऐसी स्थिति में हिन्दी कविता के भीतर भी राम-भक्ति का आविर्भाव पहले हो जाता है।"<sup>10</sup> अतः तथ्यों के आधार पर यही मत युक्ति-संगत सिद्ध होता है।

### रीतिकाल-

'रीतिकाल' नाम के संबंध में मतभेद अवश्य है किन्तु हिन्दी के अधिकांश पाठकों और विद्वानों ने उसे स्वीकार-सा कर लिया है। इस काल के नामकरण के संबंध में आ० शुक्ल का एक और सुझाव है। वे लिखते हैं "वास्वत में 'श्रृंगार' और 'वीर' इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई 'श्रृंगार' काल कहे तो कह सकता है"<sup>11</sup>

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अनेक संगत तक की योजना करके सिद्ध किया है कि 'श्रृंगार काल' नाम ही अधिक उपयुक्त है"<sup>12</sup> उनका प्रधान तर्क यह है कि 'श्रृंगार काल' कहने से एक ओर तो लगभग वे सभी कवि इसके अंतर्गत आ जायेंगे जिनका विवरण आ. शुक्ल ने 'फुटकल' कवियों के भीतर दिया है और दूसरी

ओर भूषण इत्यादि कवि भी इसी में समाविष्ट हो सकते हैं, क्योंकि उनकी श्रृंगारमूलक रचनायें काफी मात्रा में मिलती हैं और आगे भी मिल सकती हैं।

रीतिकालीन काव्य-धारा के वर्गीकरण को करते हुए आ० शुक्ल ने केवल 'रीति-ग्रंथकार' और 'फुटकल' कवियों की दो कोटियाँ बनाई हैं। जिन कवियों ने लक्षण ग्रंथों की रचना की उनको उन्होंने पहली में, और जिन्होंने ऐसे ग्रंथों की रचना नहीं की, उन्हें दूसरी कोटि में रखा। अतः आ० शुक्ल ने शोध में विकास के उपरांत मत में परिवर्तन और परिष्कार की संभावना को बड़ी ईमानदारी से माना है।

### आधुनिक काल-

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सभी दृष्टियों से भारतीय इतिहास में नवजागरण का काल माना जाता है। साहित्य के क्षेत्र में भी इस अवधि में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए तथा एकाधिक नई विधाओं का जन्म हुआ। अतः साहित्य के इतिहास में भी यहाँ से एक नवीन युग की कल्पना असंगत नहीं। ग्रियर्सन से लेकर मिश्रबन्धु और एफ० ई० के० तक किसी न किसी रूप में इस युग के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना करते आये हैं। आ० शुक्ल के परवर्ती इतिहासकार श्यामसुंदर दास, रसाल, हरिऔध, हजारीप्रसाद द्विवेदी, लक्ष्मीसागर वर्षण, नगेन्द्र आदि भी आधुनिक काल का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस काल की प्रारम्भिक सीमा के संबंध में जो भी थोड़ा बहुत मतभेद हो, इसके स्वतंत्र अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता।

गद्य साहित्य का आविर्भाव और विकास तो आधुनिक युग महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि आधुनिककाल के पूर्व तक का सम्पूर्ण साहित्य प्रमुखतः पद्यात्मक है। आधुनिक काल के आरम्भ से ही गद्य-रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में मिलने लग जाती हैं। साहित्य में जिसे आधुनिक मनोवृत्ति या 'आधुनिकता' कहते हैं, उसका प्रभाव काव्य पर उतना नहीं है, जितना नाटकों और निबंधों में दिखाई देता है। गद्य लेखन को एक शैली मात्र नहीं, वह एक विशेष मनोवृत्ति भी है। आधुनिक युग में गद्य का जो बहुत प्रचार संभव हुआ, उसका एक कारण मुद्रण यंत्र का आविष्कार तो था ही, पर दूसरा प्रमुख कारण जीवन में बौद्धिकता और तार्किक वृत्ति का प्राधान्य भी था। इस बढ़ती हुई बौद्धिकता ने केवल गद्य के बहुमुखी प्रचार-प्रसार में ही योग नहीं दिया, प्रत्युत एक सीमा तक कविता को आक्रांत करने की कोशिश भी की है।

### निष्कर्ष-

हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन परम्परा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' एक ऐसा ग्रंथ है जिसने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन

परम्परा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त किया। प्रथम इतिहासकार होने के नाते आ. शुक्ल की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। यत्र-तत्र छिपी हुई सामग्री की श्रमसाध्य खोज, इसका क्रमबद्ध विश्लेषण, युग प्रवृत्ति का मूल्यांकनय साहित्य की मूल आत्मा की गहरी परख और पकड़ एवं उपलब्ध सामग्री की प्रामाणिकता निश्चित करना कम महत्वपूर्ण काम नहीं था। उन्होंने साहित्य का संबंध जनता की चित्तवृत्ति से जोड़ा और इस प्रकार जनमानस में होनेवाले परिवर्तन और उसके कारणों का भी निर्देश किया है। उन्होंने वैयक्तिक रुचि प्रवृत्ति के स्थान पर कवियों के मूल्यांकन की व्यापक कसौटी तैयार की और उस कसौटी पर अपनी सम्पूर्ण परम्परा की परख की है। उन्होंने अपनी रसग्राहिणी चेतना के द्वारा शुद्ध साहित्य और प्रचारवादी रचनाओं के अंतर को स्पष्ट किया और इस प्रकार भावी इतिहासकारों के लिए पथ प्रशस्त किया। इतिहास लेखन तथा इतिहास-बोध की दृष्टि से आचार्य शुक्ल के मत में कुछ सीमाएँ भी रही हैं। उनकी मान्यताओं पर आज प्रश्नचिह्न लग चुका है। आ० शुक्ल का इतिहास कई दृष्टियों से एक विशिष्ट उपलब्धि है।

### संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, वाराणसी, भूमिका, पृ. 1
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि, महेंद्रपाल शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, "३८ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, ११०००", पृ०३६
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. रामचंद्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० 4
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, 21 ए दरियागंज, नयी दिल्ली, पृ. 14
5. वही, पृ. 22-23
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० शुक्ल, पृ. 129
7. वही, पृ.129
8. आचार्य रामचंद्र शुक्ल: सिद्धान्त और साहित्य, डॉ. जयचंद्र राय, भारती साहित्य मन्दिर दिल्ली 1963, पृ. 212-213
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० शुक्ल, पृ. 36

10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल: सिद्धान्त और साहित्य, डॉ. जयचंद्र राय, पृ० 213-214
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. शुक्ल, पृ. 36
12. हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग), पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 42

\*\*\*\*

